पर्यावरण संरक्षण के लिए

यज्ञ

लेखक

अमनसिंह

अवधेश गौतम

प्रस्तावना

यह पुस्तिका 19 से 21 जनवरी, 1991 तक भर्तृहरि (सरिस्का) अलवर (राजस्थान) में होने वाले पर्यावरण यज्ञ में आए हुए लोगों के लिए एक कच्चा चिट्ठा है। इस कच्चे चिट्ठे में अवधेश गौतम और अमनसिंह ने सरिस्का के लोगों की जानकारी को अपने विचारों में व्यक्त किया है। यह पुस्तिका इन दोनों लेखकों ने इस यज्ञ के लिए समर्पण भाव से प्रस्तुत की है।

"पर्यावरण संरक्षण यज्ञ" वास्तव में पर्यावरण संरक्षण के लिए तरुण भारत संघ का एक अभिनव प्रयास हैं साथ ही इस यज्ञ के लिए पधारे आप सब लोगों का, पर्यावरण विदो व सरकारी पर्यावरण विभाग के अधिकारियों तथा जमीन के साथ जुड़कर काम करने वाले लोगों का मार्गदर्शन यदि इन दोनों लेखकों को मिलेगा तो निश्चित ही यह पुस्तिका आगे पुस्तकाकार में उपयोगी साबित हो सकेगी।

अनुपम मिश्र
"गाँधी निधी"
राजघाट, नई दिल्ली

लेखक परिचय :

अवधेश गौतम : बाँदा (उत्तर प्रदेश) के निवासी मूल रूप से पत्रकार है। चेतनाशील नौजवानों को एकत्र कर "उत्कर्ष संस्थान" नाम एक स्वेच्छिक संगठन के माध्यम से गाँवों के युवकों को संगठित कर ग्राम स्वराज हेतु काम करे हैं। ग्रामीण समस्याओं पर लेखन के लिए इन्हें पुरस्कार भी मिल चुके है।

पता :—अवधेश गौतम, महामन्त्री
उत्कर्ष संस्थान,
बलखण्डी नाका, बाँदा (उ० प्र०)

अमन सिंह : एक उत्साही, नौजवान वैज्ञानिक हैं। सरिस्का में पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी खेती पर शोध कर रहे है। ग्रामीण तथा पारिस्थितिकी पर लेखन कार्य भी करते है।

पता :—अमन सिंह
34/24 (एच० आई० जी०)
किरन पथ, मानसरोवर, जयपुर (राज०)

लोगों की तैयारी : जंगल संरक्षण यज्ञ

सरिस्का के जंगल और जंगल वासियों की तबाही देख कुछ नवयुवक तरुण भारत संघ के नाम से एकत्र हो एक चेतनाशील नवजवान श्री राजेन्द्रसिंह की अगुवाई में सरिस्का में कृषि कर्म को पुर्नजीवन देने सरिस्का की दुर्गम पहाड़ियों में प्रवेश कर गये ।

आज लोगों को ही नहीं तरूण भारत संघ के सभी साथियों को भी आश्चर्य हो रहा है—अपने तय के परिवारों को देख । डाबली, कुण्ड, कासका, ऊमरी जैसे दुर्गम गाँव जहाँ पहुँच पाना ही एक अदम्य साहस का प्रतीक है, इतने कठिन श्रम के बाद जीवन के लिए बहुमूल्य पानी भी ऐसा जिसे पीना आदमी तो क्या मैदानी पशु भी पीना पसन्द नहीं करेंगें उसी पानी के सहारे ये सभी साथी भी सरिस्का वासियों के साथ आत्मसात हो गए ।

उनके साथ घुल मिल गए, उनके ज्ञान को संकलित कर विज्ञान का रूप देकर सरिस्का वासियों को पुनः वापस कर एक नए ज्ञान, नयी चेतना और उनके जल, जंगल जमीन और जंगली पशुओं के साथ वही पुराने रिश्ते कायम करने में तरूण भारत संघ ने एक अद्‌भुत कामयाबी पायी है, जिसे सरिस्का वासी भूलते से जा रहे थे । देवरी के नव निर्माण की कहानी इस लेखक ने जाननी चाही तो हुक्के की निगाली मुह से अलग करते एक वृद्ध ने कहा, "सुना दे बब्बू ?.....बब्बू..... बाबू लाल गुजर देवरी का एक नव जवान कहता है, "अरे साव सरकारी कानून तो कहता है नाई तू बाल मत काट कसाई तू गरदन बूंच दे । और इसके बाद बाबूलाल ने जो कहानी सुनाई वही तो गांधी की कल्पना का "ग्राम स्वराज्य" है वही तो असली रामराज्य है ।

ऐसे क्षेत्रों में जहां भी नव निर्माण के काम हुऐ काम चाहे सरकारी हो या अ–सरकारी लोगों का स्वालम्बन समाप्त होता है वे परजीवी बख्सीस जीवी हो जाते है किन्तु सरिस्का में तरूण भारत संघ के अभिनव इस प्रयोग ने गांव की स्वायतता स्वालम्बन को इसके उत्कर्ष तक

पहुंचा दिया है । गांव के लिए चाहे सड़क बनानी हो या जोहड़े ग्रामवासी अपने श्रमदान पर भरोसा रखते है । पहले वे अपने श्रमदान से काम करने की पूरी कोशिश करते हैं जब कुछ कसर रह जाती है तब "राजेन्द्र भाई साहब" से कहते है ।

लोसल गुजरान (एक गाँव) ने तो वाकई अद्‌भुत उदाहरण पेश किया है। ग्राम वासियों ने पहले तो अपने जोहड़े में खुद श्रमदान किया । जब काम उनके बस में नहीं रहा तो तरूण भारत संघ से सहायता मांगी आश्चर्य की बात तो यह है कि तरूण भारत संघ की उस सहायता को लोगों ने अपने श्रम के मूल्य के आधार पर नहीं बल्कि काम करने वाले परिवारों में बराबर के हिस्से में बांटा यही तो है न गांधी की अन्तयोदय सर्वोदय ।

इस लेखक ने डाबली ग्रामसभा की बैठक में लोगों से पूछा गाँव में पहला साक्षर कौन है तो लोगों ने 5 साल के एक बच्चे को ला खड़ा किया यह कहाँ से पढ़कर आया है इस सवाल का जवाब था रामोतारजी मास्टर साहब पढ़ाते हैं । रामोतारजी तरुण भारत संघ की ओर से शिशुपालन केन्द्र के संचालक है । दिन में बच्चों को पढ़ाते हैं शेष समय गाँव के संगठन, नवनिर्माण हेतु गाँव के फैसलों में भाग लेते हैं तथा ग्रामीण फैसलों के मुताबिक काम करते हैं । डाबली ही नहीं सरिस्का के तमाम गाँव की यही व्यवस्था है ।

स्वैच्छिक संगठनों के केन्द्र और उससे जुड़ी परिधि में तो अपने आदर्शो के प्रति प्रतिबद्धता और समर्पण देखने को मिलता ही है, किन्तु तरुण भारत संघ को पूरी श्रृंखला में केन्द्र से अन्तिम कड़ी तक वही समर्पण, वही प्रतिबद्धता । इन पंक्तियों का लेखक तरुण भारत संघ के साथियों के साथ राडा पहुंचा पास के गाँव लोसल गुजरान में संस्था के ही एक अन्य कार्यकर्ता श्रवण शर्मा ग्रामसभा (ग्रामीण संगठन) के एक समूह निर्णय के आधार पर जंगल विभाग के सुदूर कार्यालय चले गए यह लेखक प्रयास करने के बाद दूसरे दिन ही श्री शर्मा से मिल सका ।

अपने काम के प्रति अपने मूल्यों के प्रति अकेले श्रवण शर्मा ही प्रतिबद्ध नहीं है, तरुण भारत संघ के साथ जुड़े सैंकड़ों ऐसे साथी हैं जो दरिद्रनारायण के साथ मिलकर तप कर रहे है ।

लोसल गुजरान में क्षेत्र के विधायक ने एक बांध बनाने का आश्वासन दे गए थे। चुनाव जीतने के बाद विधायकजी एक इन्जीनियर को लेकर आए भी। इन्जीनियर ने मौका मुआयना कर घोषणा कर दी यहाँ बांध बंध हो नहीं सकता, बंधेगा तो रुकेगा नहीं। गाँव के संगठन ने इस चुनौती को भी स्वीकार किया। वहाँ बांध बनाया और बांध रुक भी गया। अब गाँव वाले कहते हैं, साहब हम दोहरी धोती वाले और पेन्ट वाले को बार-बार बुला रहे है कि आजा देख जा, हमने बांध कैसे बना लिया और कैसे रुक गया, लेकिन वे आते ही नहीं।

तरुण भारत संघ ने सरिस्का क्षेत्र में इस तरह के 152 बांध बनाए है। इन बांधों के लिए क्षेत्र चयन अथवा तकनीक के लिए किसी अभियन्ता से परामर्श नही ली गयी। बल्कि गाँव के ही इन विज्ञानियों ने स्थान चयन और तकनीक का समूह निर्णय लिया और अभी तक के सारे निर्णय कारगर ही साबित हुए हैं।

जंगल बचाने के लिए भी तरुण भारत संघ ने सरिस्का वासियों के साथ साझी रणनीति बनाई है। जंगल कानून को पढ़कर उन्हें कम भरोसा है, उन्होंने अपना कानून बनाया है। गाँववासियों को नाई की तरह बाल काटने का तो पूरा हक है किन्तु उसने गर्दन पर हाथ भी लगाया तो उसे जात-पांत से अलग कर हुक्का पानी बन्द कर देने तक की सजाएं गाँव के संगठन स्वतः दे डालते है।

अनावश्यक रूप से यदि किसी ग्रामवासी ने पेड़ की एक डाल भी काट डाली तो उसे 11 से 101 रुपये तक का जुर्माना बोल दिया जाता है। जुर्माना न अदा करने अथवा दुबारा वही गलती दुहराने पर किसी भी व्यक्ति को जात-पांत से अलग कर उसका हुक्का पानी बन्द कर दिया जाता है। सरिस्का वासी बस बाहरी लोगों तथा जंगल विभाग के कर्मचारियों को अपने इस जंगल कानून में सहभागी नहीं बना सके थे।

किन्तु अब वे एक रास्ता पा गए है, जिसमें किसी भी पूरे अवांछनीय काम को रोकने हेतु अब सरकारी विभाग को शामिल करता है। वह है, जंगल संरक्षण हेतु "यज्ञ" जिसके अन्तर्गत अब गाँव से आगे बढ़ कर सरिस्का क्षेत्र के लिए कोई साझा कानून बना सकेगा। जिसमें सरिस्का के ग्रामवासियों के साथ देश के पर्यावरण विद तथा राजस्थान और देश का वन विभाग भी सहभागी होगा।

—:o:—

सरिस्का

दुनिया की पुरातन पर्वत श्रृखंला अरावली पर्वत माला के हृदय स्थल में स्थित यह क्षेत्र ऋषि-महर्षियों की साधना का केन्द्र रहा है। पाण्डूपोल, नीलकण्ठेश्वर, भर्तृहरि, नारायणी माता, तालवृक्ष आदि तीर्थ स्थल आज भी ऋषियों की यहां पुरानी कहानी दुहारते हैं।

कालान्तर में ऋषि परम्परा लुप्त सी होने से यह क्षेत्र मानव की साधना की जगह उसके भौतिक सुखों का केन्द्र बनने लगा। जिससे यह राजा-महाराजों के ऐसगाह, शिकारगाह, बनकर रह गया। इस क्षेत्र को मानव ने अपनी वैचारिक विलासिता के लिए कभी रूंघ क्षेत्र, कभी संरक्षित क्षेत्र, कभी अभयारण्य, कभी बाघ परियोजना, तो कमी राष्ट्रीय उद्यान का नाम दिया।

राष्ट्रीय उद्यान की परिभाषा को साकार बनाने के लिए सरिस्का परिक्षेत्र में बसे–समाए गांवों को उजाडकर क्षेत्र के बाहर बसाने के एक तरफ तो उपक्रम किए जा रहे है, किन्तु दूसरी ओर यहां की घाटियों, पहाड़ियों का डायनामाइट लगाकर विध्वंस किया जा रहा है। सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान के कौर नं० 3 के तिलवाड़, कालवाड़, बल्देवगढ़, खोह आदि स्थानों में 495 अवैध खाने 150 वर्ग कि. मी. क्षेत्र में चल रही है।

यहीं पर यह सवाल पैदा होता है कि क्या यहां के मूल निवासियों को बाहर खदेड़ कर ड़ायनामाइट से सरिस्का का सीना चीरकर, बाघ परियोजना, अभ्यारण्य और राष्ट्रीय उद्यान की परिभाषा कभी पूरी हो सकती है ? जंगल को अपनी भौतिक आवश्यकताओं का केन्द्र मानने वाले तो इसका समर्थन करेगें, किन्तु इसी से पारिस्थितिकी सन्तुलन पर केवल कुप्रभाव ही नहीं बल्कि यहां के सभी वन्य प्राणियों की संख्या में लगातार कमी आ रही है। उदाहरण के लिए 1985 में यहां 45 बाघ थे किन्तु अब बाघों को संख्या मात्र 19 हो रह गयी है।

दिल्ली से 198 कि. मी. दूर कला और संस्कृति के पर्याय राजस्थान प्रान्तों के चर्चित जनपद अलवर के इस क्षेत्र सरिस्का के इसी दर्द के साथ एक स्वैच्छिक स्वयं सेवी संस्था, "तरुण भारत संघ" ने अपना नाता जोड़ा। 800 वर्ग कि. मी. क्षेत्र में विकसित क्षेत्र सरिस्का के बीच जंगली पशुओं के साथ लगभग 52 गांवों में 15 हजार लोग निवास करते है।

—:o:—

सरिस्का और तरुण भारत संघ

सन् 1985 में तरुण भारत संघ के कार्यकर्ता श्री राजेन्द्रसिंह ने अपने साथियों के साथ सरिस्का में अकाल के समय वहां के नवजवानों को एकत्र कर रोजगार के अवसर खोजने, जंगल के साथ उनके वह पुराने रिस्ते जोड़ने हेतु जागरूकता के प्रयास शुरू किये।

गोपालपुरा में खेती में रोजगार सृजन की दृष्टि से वर्षा के पानी के समुचित उपयोग के लिए बांध बनाकर काम की शुरूआत की। काम के परिणाम को देख ग्रामीणों ने अति उत्साह दिखाया जिससे सरिस्का परिक्षेत्र के 150 गांवों (थानागाजी, राजगढ़ व अलवर तहसीलों के) में 152 बांध व तालाब बनाए गए। तरुण भारत संघ ने जब गांवों में तालाब बनाना शुरू किया तो अलवर के जिला प्रसाशन, राजस्थान प्रान्त के सिंचाई विभाग और वन विभाग ने जमकर अड़गें बाजी की।

इस परिक्षेत्र में जब तरुण भारत संघ ने शिक्षा का काम प्रारम्भ किया तो सरिस्का बाघ परियोजना के क्षेत्र निदेशक ने कहा कि यहां के सभी गांव नाजायज रूप से बसे हैं अतः इन गांवों में किसी भी प्रकार का सामाजिक उत्थान (शिक्षा, स्वास्थ्य, चेतना आदि) का काम करने की इजाजत नहीं दी जावेगी।

सिंचाई विभाग ने भी इसी प्रकार का नोटिस देकर संस्था व ग्रामीणों द्वारा बनाए गए बन्धों को तोड़ने तक के आर्डर जारी कर दिए थे। जिला प्रसाशन अलवर ने भी 100 एकड़ के एक नंगे पहाड़ी क्षेत्र

को पुनः हरा-भरा हो जाने के बाद उसमें एक नयी आबादी बसा दी थी।

तरुण भारत संघ के प्रयासों और सरकारी विभागों की विपरीत कार्यवाहियो के चलते सरिस्का के वनवासियों की भी चेतना जागी, और उन्होंने लोग-जंगल-जंगली जानवर पहाड तथा पर्यावरण को बचाने की तैयारी प्रारम्भ कर दी है। इन अनपढ़ कहे जाने वाले लोगों ने अपने काम से सिद्ध कर दिया कि जंगल व जंगली जीवों को वे प्यार करते हैं तथा इनके संरक्षण के लिए जुम्मेवार भी वही हैं।

—:o:—

पर्यावरण संरक्षण और सरकार

पर्यावरण संरक्षण आज के समाज की एक मूलभूत आवश्यकता है। पर्यावरण चाहे वातावरणीय हो वैचारिक, बौद्धिक हो या भौतिक, सबके लिए ही सरकार चिन्तित है। सरकार पर्यावरण संरक्षण के लिए तरह-तरह से प्रयास कर रही है। किन्तु विचार धारा समर्थ न होने की स्थिति में परिणाम उतने व्यापक नहीं होते है जितने होने चाहिए। कभी-कभी तो दो विपरीत कार्यवाहियां एक साथ हो जाती है, जैसे सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान और उसके मध्य ताम्र परियोजना दरीबा।

मूल समस्या पर्यावरण की परिभाषा का निरूपण ही है। ऐसी स्थिति में वास्तविकता से अलग हटकर एक सरकारी तथा नौकरों की पर्यावरणीय परिभाषा बन निकली है। पर्यावरण की इस परिभाषा के चलते पर्यावरण संरक्षण मात्र पहाड़, पेड़, जंगल और पानी पर ही आकर केन्द्रित हो जाता है। संस्कृति और सभ्यता का स्थान शून्य होता जा रहा है।

आदमी को खत्म कर जंगल, पानी, पहाड़ को संरक्षित सुरक्षित कर लेना ही यदि पर्यावरण संरक्षण है तो ऐसे चिन्तकों की बलिहारी, जंगल को संरक्षित पोषित करना ही एक काम मात्र किया जा रहा है। यही जंगल विभाग के कर्मचारी का उत्तर दायित्व बन गया है। जंगली

पशु बचाने है तो दुसरा विभाग जंगल का पानी बचाना है तो तीसरा विभाग। लेकिन जंगल की संस्कृति बचानी है तो कोई विभाग नहीं।

ऐसी स्थिति में सरकार की मन्शा साफ नहीं कही जा सकती तथा नीति निर्धारकों की नासमझी के कारण भी सारे प्रयास शून्य ही परिणाम देगें। बल्कि एक नयी समस्या भी पैदा करते हैं। सरिस्का में जंगलात वालों ने भी कुछ ऐसा ही किया।

सरिस्का वासी तो यह मानते हैं, कि जब से यहां जंगलात वालों को और भी अधिक अधिकार मिलते गऐ जंगल का तथा जंगली पशुओं का नाश ही होता गया। संरक्षण के स्थान पर भक्षण ही होता रहा है, यहां ? जंगल विभाग की नीति के चलते वन और वनवासियों के बीच रिस्ते टूट गए। वे एक दूसरे के लिए न रहकर एक दूसरे के उपभोग के लिए हो गए, जंगल सरकार का हो गया और वे उसके पराए हो गए।

—:o:—

पर्यावरण संरक्षण और वन विभाग

सरकार का वन विभाग एक लिखे लिखाये कानून पर काम करता है। एक कानून यदि जंगल संरक्षण में नाकाम रहा तो उसकी सहायता के लिए दूसरा कानून बना दिया गया। इन दोनों ही तरह के कानून बनाने वालों ने जंगल की परम्पराओं, मान्यताओं का ज्ञान कभी नहीं किया।

ऐसी स्थिति में वनवासी तथा वन्यजीवी प्राणी पर यह कानून लदा हुआ लगता है। साथ ही इन कानूनों के चलते वनवासी और वन के अन्तर सम्बन्ध समाप्त हो गए। "वनराज" अब सिंह नहीं बल्कि वन विभाग का चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी है। और वह पशुओं का ही नहीं पेड का पहाड का, बाघ, हिरन का, वनवासियों और इस सबके साथ पर्यावरण का, जंगली संस्कृति और सभ्यता का भक्षण कर रहा है।

और इस व्यवस्था के चलते वनवासियों का उनके अपने जंगल से मोह खत्म हो गया था, रिश्ते टूट गए थे। उनका अपना अब पराया

हो गया था। किन्तु 1986 तक निरन्तर 3 वर्ष तक चलने वाले सूखे तथा तरुण भारत संघ के प्रयासों ने सरिस्का के लोगों के बीच एक साझी समझ विकसित की है।

—:o:—

पर्यावरण संरक्षण और वनवासी

वनवासी अपने आसपास के जंगल, पहाड, जल स्रोत, जंगली पशु-पक्षियों को अलग-अलग नहीं देखता, वह सबको, सबके जीवन और रहन-सहन को अपने साथ रखकर एक साथ देखता है। और यही है पर्यावरण का स्वास्थ्य। वनवासी अपने पर्यावरण के सारे अवयवो को अपने आध्यात्म के साथ जोड़कर अपने पूजा का केन्द्र मानता है।

वनवासी अपने आसपास के पेड़ों की यदि पूजा अर्चना करता है तो साथ ही वह यह भी ख्याल रखता है कि तालाब के बहाव क्षेत्र में वह शौच आदि न करें। वह अपने विभिन्न तीज त्यौहारो में विभिन्न वृक्षों, पशु-पक्षियों की पूजा अर्चना करता है। जिन पर उसका जीवन निर्भर करता है।

शासन और प्रशासन की उल्टी नीतियों के चलते वनवासी के आध्यात्म को निरन्तर गहरी चोट लगती रही। उसी की निगाह के सामने उसकी लाचारी में उसके पूजा की वस्तु नष्ट की जाती रही, कभी उसके राजा के द्वारा, कभी उसके मालिक के द्वारा, कभी उसके मंत्री के द्वारा, सांसद, विधायको के द्वारा और कभी वन विभाग के द्वारा अतः ऐसी स्थिति में उसका अपना मानष अपना आध्यात्म बदला जाना स्वाभाविक ही थी।

इस प्रकार वह जंगल का दुश्मन हो गया उसका भक्षक हो गया यह कहना तो बेमानी है। किन्तु वह जंगल का अपने पर्यावरण का हमदर्द नहीं रहा उसका रिस्तेदार नहीं रहा उसका पुजारी नहीं रहा यह तो सच है।

लेकिन तरुण भारत संघ ने जब इन्हें बिना पढ़े-लिखे किन्तु ज्ञानवान वनवासियों से अकलेपन की पुरानी रीति नीति सीखना शुरू

किया तो उसी वनवासी का अपना सोया आत्म विश्वास जागा, आध्यात्मक जागा जो कुछ खो गया था, उसे कुछ तो आपसी सहभागिता से और कुछ तरुण भारत संघ के प्रयासों से खोज निकाला।

सरिस्का क्षेत्र में फैले सारे गांवों में जंगल संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण हेतु साझा काम चालू हो गया। जो वास्तव में पर्यावरण प्रेमी है उनके लिए यह सच्चाई उभारना इस लेखक के बसकी बात नहीं, इसे समझने के लिए तो सरिस्का के गांवों के वासियों के उनके दिल से कही गयी कहानी को दिल खोल कर सुनना होगा।

हां उस कहानी का एक उदाहरण अवश्य देखा जा सकता है और वह है 19 से 21 जनवरी 1991 तक भर्तृहरि में चलने वाला "पर्यावरण संरक्षण यज्ञ" इन तिथियों में यज्ञ कराने का निर्णय तरुण भारत संघ का नहीं है बल्कि, सरिस्का के सैकड़ों गांवों के वनवासियों का है जो गत 27 नवम्बर को लिया गए एक फैसले का अंश है।

गत 27 नवम्बर को सभी वनवासी सरिस्का क्षेत्र के टहला रैन्ज कार्यालय में वन विभाग के कर्मचारियों की कतिपय अनियमिताओं के खिलाफ एक धरने में बैठने आये थे। धरने में जिन्दाबाद–मुर्दाबाद, अभी तो यह अंगड़ाई है.....चाहे जो मजबूरी हो.....के नारे नहीं लग रहे थे। वरन् पर्यावरण संरक्षण के लिए चिन्ता की जा रही थी और उसी बीच एक वृद्ध तम् वनवासी का प्रस्ताव था कि "अपने जंगल को बढ़ाने के लिए हम 'जग' क्यों न करें।"

ज्ञान और पर्यावरण की देवी मां सरस्वती के जन्म दिन बंसत पंचमी को इस यज्ञ की पूर्णाहुति उन्हीं वनवासियों ने ही तय की। स्थान भर्तृहरि भी उन्ही का एक प्रस्ताव था। यज्ञ की रीति नीति बस वही पुरानी।

—:०:—

पर्यावरण संरक्षण हेतु यज्ञ ही क्यों ?

इस सवाल के जवाब हेतु इन पंक्तियों का लेखक यज्ञ के लिए प्रस्ताव करने वाले वृद्ध वनवासी से तो नहीं मिल सका किन्तु जिसके

भी मस्तिष्क में भारत और उसकी परम्पराओं का चिंतन स्पष्ट है। उसे इस सवाल के जवाब की आवश्यकता नहीं है। वर्षा के लिए, अच्छा वातावरण के लिए पुत्र और धन धान्य के लिए ऋषि कुल भारत में यज्ञ की परम्परा पुरानी है।

किन्तु यह यज्ञ अग्नि कुण्ड को शाकल्य अर्पण मात्र नहीं है। और शायद यज्ञ की परिभाषा भी यह नहीं है। वनवासियों, आदिवासियों, अनपढ़ किन्तु ज्ञानियों द्वारा किया जाने वाला यह यज्ञ वही है जिसका वर्णन ऋग्वेद की संहिता पर्व में है।

जनवरी 19 से 21 तक भर्तृहरि में एक ही लक्ष्य एक ही संकल्पना के लोग एकत्र होंगे। साथ रहेगे साथ खायेगें और साथ विचार करेगें। साथ ही यज्ञ का अवलम्ब हमारी परम्पराओं के प्रति बद्धता प्रमाणित करेगा। और इस सहभाग से जंगल, पर्यावरण बचाने की नई दिशा निकलेगी।

ऐसे सुन्दर और नैंसर्गिक वातावरण में जंगलों में छिपे-दबे पिछड़े गाँवों से निकल कर विश्व वन्द्य भारत की सनातनी ज्ञान आयातित (तथा कथित विकसित) ज्ञान से मुलाकात करेगा।

ग्रामों में आज भी गहरे महत्व का "यज्ञ" इस समागय का एक माध्यम रहेगा, एक आधार रहेगा। इसलिए गाँव का आदिवासी इस महा सम्मेलन में अपना सहकार नहीं सहभाग महसूस करेगा। और तब वह शहरियों के लिए खिलौना नहीं महत्वपूर्ण साथी रहेगा। और तब उल्टी बह चली गंगा सीधी बहेगी, वह गंगोत्री से ही निकल बंगाल की खाडी में ही गिरेगी।

"पर्यावरण संरक्षण यज्ञ" नाम से ज्ञान के इस महासंगम में वनवासी ज्ञान को संरक्षण और आयतित ज्ञान को आवश्यक नियन्त्रण देकर पर्यावरण संरक्षण के लिए एक साझी रणनीति तैयार कर एक अभिनव जंगल कानून बनाने का भी प्रयास सफल हो सकता है। बसर्ते सरकार एक खुलेमत से इसमें सहभागिता निभाए।

इस महायज्ञ में यह भी प्रमाणित होगा की जंगल संरक्षण के लिए "सरिस्का बाघ परियोजना" में कौर क्षेत्र–बफर क्षेत्र ज्यादा कारगर

होगा कि कांकड बनी–रखत बनी, जंगल को बचाने के लिए वनराज अधिकारी परम्परा कारगर है या "धराड़ी परम्परा"।

और इस नैसर्गिक वातावरण में चिन्तन से पर्यावरण संरक्षण के लिए जो भी "नियम-उपनियम", बनेगें–निकलेगें उसके परिणाम सास्वत ही होगें। तब यह गुंजाईश नहीं रहेगी कि राष्ट्रीय उद्यान के लिए सरिस्का वासियों की आबादो को "नाजायज बसावट" कहा जाय और सरिस्का के कौर क्षेत्र में अवैध खनन को राज्य की आय का स्रोत बताया जाय।

—-:o:—

पारिस्थितिकी और पर्यावरण

शब्द "पारिस्थितिकी", हिन्दी भाषा का एक पूर्ण शब्द नहीं है। किन्तु हिन्दी साहित्य में देशज शब्दों की परम्परा एक तरह से नए शब्दों को आमन्त्रित करने की विधा ने जहां एक तरफ भाषा को समृद्ध बनाया है वहीं कुछ बुराईयां भी पैदा की है। और यही कारण है कि हमारी संस्कृति और सभ्यता पर बाहरी सभ्यता के आक्रमण भी कामयाब रहे हैं।

आंगल भाषा के शब्द "इको-लोजी" के भावार्थ के रूप में "पारिस्थितिकी" को स्वीकार किया गया है। यही कुछ पर्यावरण के साथ भी हुआ है। इसकी भारतीय संस्कृति और सभ्यता में "प्रणावरण और चिन्तावरण" के रूप में व्याख्या की गयी है :—

"दश कूप समावायी, दशवायी समोहदः।
दश छदः समोपुत्रो, दशपुत्रो समोपुमः॥

(अर्थात् दस कुओं के समान एक बावड़ी, दश बावडियों के समान एक तालाब दस तालाबों के बराबर एक पुत्र तथा दस पुत्र के बराबर एक वृक्ष मूल्यवान है)

भारतीय दर्शन ने पारिस्थितिकी और पर्यावरण को कभी भी अलग-अलग करके नहीं देखा। तभी हमारी सनातन सभ्यता विश्व गुरू के रूप में प्रतिष्ठापित हुई थी लेकिन पश्चिमी संस्कृति ने तो एक दम उल्टी ही गंगा बहाई। इस संस्कृति ने तो पर्यावरण को मनुष्य का शत्रु बताया। पर्यावरण को मनुष्य के विकास और अस्तित्व की बाधा के रूप में निरुपित किया है।

दुनिया में ख्याति लब्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने अपनी विचार धारा "सर्वाइबिल आफ दि फिटेस्ट" में प्रकृति को बडे और तेज नाखूनों

वाली राक्षसी बताया है जो मानव को मारकर खा जाना चाहती है। अतः मानव को उस राक्षसी के खिलाफ संघर्ष करना है। उसका दमन और शोषण करना है, साइन्स के द्वारा अपने पर्यावरण को भी नियंत्रण में रखना है ताकि मानव उसका शोषण कर अधिक दिनों तक जिन्दा रह सके।

अफसोस कि रस मान रूसदी की हत्या के लिए तो चारों तरफ से फरमान जारी हो रहे हैं किन्तु सारी पश्चिमी सभ्यता उसी नामुराद डार्विन की राह पर चल रही है। इसके विपरीत भारतीय सनातन संस्कृति में मानव अपने आपको पर्यावरण का ऋणी मानता है, क्योंकि वह उसके द्वारा उपकृत होता है पर्यावरण के प्रति ऋणशोधन करना वह अपना कर्तव्य मानता है किन्तु वह तब तक उत्तरण नहीं होता जब तक पर्यावरण से प्राप्त अपना शरीर पर्यावरण को वापिस नहीं कर देता। किन्तु खतरनाक बात तो यह है कि ऐसी सनातनी पवित्र संस्कृति पर डार्विन की नायाक पाश्चात्य संस्कृति भारी पड़ रही है।

सनातन संस्कृति में प्रकृति और पर्यावरण हमारी माँ है। साइन्स के प्रयोगों के द्वारा हम उसके स्वभाव को जानकर उसके साथ हम व्यवहार करते हैं। क्यों गलतियों के लिए वह किसी को माफ नहीं करती। हम उसका दोहन करते हैं, उपयोग करते हैं अपना जीवन निरापद बनाते हैं जबकि पाश्चात्य सभ्यता हमें उसके उपभोग के लिए उसके शोषण का मार्ग सुझाकर जीवन को विलासी बनाने का काम करती है। पर्यावरण के उपयोग व दोहन से वह और भी अधिक पुष्पित पल्लवित तो होती ही है साथ ही हमारा जीवन भी सुखमय शांतिमय बना रहता है। जब प्रकृति के उपभोग से, शोषण से पर्यावरण प्रदूषित तो होता ही है साथ ही हमारा जीवन भी रूग्ण हो जाता है। जीवन की इसी रूग्णता को हम प्रकृति का प्रकोप मानते हैं, जबकी हमारे संयमित-ऋषि उचित जीवन को पाश्चात्य सभ्यता ने पिछड़ापन कहा है।

आज हमारे समाज में प्रकृति व पर्यावरण के दोहन व शोषण के स्पष्ट उदाहरण मोजूद हैं। इनके परिणाम और दुष्परिणाम भी हमारे सामने स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। हम दूर क्यों जाय अपने सरिस्का में ही क्यों न देखें। सरिस्का के मूल निवासियों का मुख्य पेशा पशुपालन

है। उनके पालतू पशु वन की घास और पेड़ों की पत्तियां चर के दूध घी की नदियां वहां रहे हैं। पशुचारण से जंगल को क्षति नहीं होती बल्कि पशुचारण जंगल के लिए स्वास्थ्य वर्धक है।

ग्रामीण जब अपने पालतू पशुओं के लिए जल संचय करता है तो वह जंगली पशुओं, पेड़ पौधों के जीवन रक्षा का काम भी तो पूरा कर रहा होता है। उसके पशुओं को वर्ष भर चारा मिलता रहे। अतः वह पशुचारण में अपने संचित पारम्परिक ज्ञान का प्रयोग भी करता है कल्पना कीजिए पशुचारण की इस सारी प्रक्रिया में कहीं पर्यावरण प्रदूषित हुआ क्या ? पशुओं की मल मूत्र की खाद, संचित जल और पेड़ों की आवश्यक छटाई से तो जंगल अधिक समृद्ध होगा, पर्यावरण सन्तुलित होगा यह है दोहन का एक उदाहरण।

दूसरी तरफ सरिस्का नेशनल पार्क के कौर नं. 3 में 150 वर्ग कि. मी. क्षेत्र में डोलोमाइट पत्थर की वैध और अवैद्ध खदाने पारिस्थितिकी के शोषण की सोधो प्रतीक है। इन खदानो से किसी के जीवन को विलासी बनाने वाले तमाम प्रकार के अवयव बाहर निकाले जा रहे हैं। खनन कर्म से सीधे सम्पर्क को व्यवस्था को आर्थिक लाभ तो मिल रहा है किन्तु शांति और सुख मिल ही रहा होगा यह निश्चित नहीं है।

गिनती के कुछ लोगों की जेबें भर रही है किन्तु पर्यावरण को कितना बड़ा खतरा पैदा किया जा रहा है। सोचकर पर्यावरण विदों का दिल काँप जाता है। खनन से उत्पन्न धुल से मुलायम किस्म के पौधों का दूर-दूर तक नाश हो रहा है। जंगल जमीन और जल सब नष्ट हो रहा है। जंगली जीवों के निरापद जोवन की तो दूर-दूर तक कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह कृष्ण पयपान कर रहा है किन्तु माँ यशोदा की तरह नहीं राक्षसी पूतना की तरह।

संयोग को बात यह है कि पर्यावरण के सन्तुलन के लिए यह (पाश्चार्त्य संस्कृति) आयातित विकास की नीति ही दोषी है और इसके सन्तुलन के लिए रोना भी वही रो रही है किन्तु वह भी प्रदूषित तरीके से। पश्चिमी देश नारेबाजी से पर्यावरण को सन्तुलित कर रहे हैं। हरित क्रान्ति, स्वेत क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति के नारों से पर्यावरण का

नाश तो कर दिया किन्तु विश्व पर्यावरण वर्ष के नाम से पर्यावरण को सन्तुलित नहीं किया जा सकता। हो सकता है तो बस भौतिक विलासता में जी रहे चुटकी भर अभिजात्य वर्गियों की जीभ पर लोहे को लगाम लगाकर।

यदि कैसे ? तो आइए सीखिए सरिस्का के आदिवासियों से। पर्यावरण के सरकारी संरक्षण के चलते वे भी जंगल काटने लगे थे किन्तु तरूण भारत संघ ने जरासा रास्ता दिखाया और वे सबसे बडे पर्यावरण संरक्षण हो गए। परन्तु सरिस्का में ड़ोलामाइट के अवैध खनिक को कौन रोकेगा। अवैध कहकर रोकेंगे तो सरकार को रिश्वत देकर लाइसेंस बनवा लेंगे, सरकार ईमानदार रही तो हजारों लाखों मजदूरों की रोजी के सवाल पर अदालत से स्थगनादेश प्राप्त कर लेंगे।

तब आप कहोगे ऐसे शैतान सॉव का, पर्यावरण के भक्षक का फन कुचल दो। पराजित पाश्चात्स सभ्यता खून खराबा ही तो करती है। लेकिन नहीं आइए सनातनी सभ्यता आपको रास्ता दिखाऐगी। सरिस्का के आदिवासियों से पूछिए ये आदिवासी सरिस्का में अवैध खदान रोकने के लिए पर्यावरण संरक्षण के लिए भर्तहरि में एक यज्ञ करने जा रहे हैं।

"धर्मा रक्षति रक्षता:" आप धर्म की रक्षा कीजिए, धर्म आपको रक्षा करेगा। यह धर्म, हिन्दू, मूसलमान और इसाई का धर्म नहीं है। सनातन धर्म है। वस्तुओं का अपना स्वाभविक स्वभाव ही धर्म है जैसे सूर्य का ताप चन्द्रमा की शीतलता, धरती की उर्वरा पानी की शीतलता तरलता उसका धर्म है। लेकिन पानी का हेवोवाटर बना देना अधर्म है। अतः वस्तुओं को उनके स्वाभाविक स्वाभाव से समाप्त कर देना ही अधर्म है।

सरिस्का के आदिवासी इसी धर्म के हथियार की खोज और सृजन के लिए सरकारी असरकारी अपने साथियों के साथ यज्ञ के बहाने समागम कर अवैध खनन के खिलाफ धर्मयुद्ध की रणनीति तय करेंगे।

—:o:—

पर्यावरण और हमारी परम्पराऐं

इस विषय वस्तु पर प्रवेश करने से पूव, "परम्पराएं" क्या होती हैं यह तय कर लेना ही न्याय संगत होगा। हमारी परम्पराओं को रूढ़ियां और अन्ध विश्वास बताने वालों ने वेदो-उपनिषदों से निकले रीति रिवाजों को 'परम्परा' बताया है। किन्तु ऐसा है नहीं। हमारे वेद और उपनिषद भी परम्पराओं के द्वारा बने है। हमारी सनातन परम्पराओं को ऋषियों-महर्षियों ने चारों आश्रमों, शिक्षा, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के तहत परिक्षण, परिवर्धन किया और तब उन्हें वेद की ऋचाओं के रूप में स्वीकार किया।

हमारी परम्पराओं में व्यक्तिवादी, जीवनवादी, समाजवादी और विश्ववादो दृष्टियों का सीधे परिलक्ष्य होता है। जबकि पाश्चात्य सभ्यता में मनुष्य का अस्तित्व मशीन के साथ मिलाकर देखा जाता है। प्रो० एम. एन. राय महात्मा गांधो की धुर आलोचना तो करते थे किन्तु बापू को भारत को सारी परम्पराओं का प्रतिनिधि कहकर उन्होंने उन्हें श्रद्धांजली अर्पित की थी।

यावद् जीवेत सूखम् जीवेत्, ऋणम् कृत्वा ध्रतम् वीवेत्।
भस्मि भूतस्य शरीराणाम्, पुनरागमेपित।।

ऐसी चीजें हमारे सनातन में भी उपजी। किन्तु अभिज्ञान शाकुन्लम तभी रचा जाता है। और तभी भगवान बुद्ध का भी अवतार होता है। बुद्धि वादी परम्पराओं की बजाय श्रुतिवादी परम्परा के अनुयाई ब्राह्मणों ने तो बुद्ध को उच्छेदवादी, भारतीय परम्पराओं की जड़ काटने वाला तक कहा था किन्तु बुद्ध तो, "एसधम्भोसनन्तनो" सनातन धर्म के परम्पराओं के पुर्नस्थापक थे। किन्तु आज पुनः जब तक जियो सुख से जियो ऋण लेकर घी पियो की नीति सिखाई जा रही है।

बुद्ध ने इन परम्पराओं की जड़ में प्रवेश किया था। उनका स्वभाव जाना था, और उनके स्वभाव के विपरीत जो व्यवहार उनमें विकसित हो गया था। उनको दूर करने का प्रयास उन्होने किया था। किन्तु आज तो उस कुत्सित व्यवहार का हमारी परम्पराओं में निवेष के लिए, हमारी परम्पराओं के विपरीत आयातित परम्पराए स्थापित करने के लिए उन्हें अन्धविश्वास और रूडिया बताया जा रहा है और यह काम पूरे के पूरे सत्ता संरक्षण में किया जा रहा है। विकृत चुनाव पद्धतियों के चलते चुने गए लोगों को आम जनमानस के प्रतिनिधि बताकर उनके लिए गए गलत निर्णयों को कानून बताकर पूरे प्रशासनिक दबाव के साथ हमारी परम्पराऐं समाप्त की जा रही है।

सम्भव है, हमारी परम्पराओं में भ्रान्तियों के कारण कुछ दोष भी शामिल हो गए हों किन्तु जो पाश्चात्य सभ्यता यह सिखाती है कि सारे संसाधन तो बस मेरे लिए है, किसी को दुख पहुंचे या सुख मुझे तो बस उपभोग करना जीना है। ऐश करनी है इस मानसिकता से तो बहुत अच्छी है। हमारी परम्पराऐं। पाश्चात्य समाज शास्त्री भी समाज के दो ही कानून मानते हैं, एक "ला आफ एक्सप्लाइटेशन" और दूसरा, "ला आफ सेक्रीफाइस्ड"। पहला कानून तो आज की व्यवस्था है और दूसरा हमारी परम्पराओं का।

दोनों ही सामाजिक कानूनों को सरिस्का के संदभ में देखे तो यहाँ 150 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में डोलोमाइट का खनन तो पर्यावरण का एक्स-प्लोइटेशन ही तो है। खनिक और उसके पीछे जुडी व्यवस्था तो मात्र पर्यावरण को चबाए जा रही हैं बस इसीलिए कि वह लूट खसोट कर कैसे विलासिता के साथ चल सकते हैं। इनकी तों बस यही परम्परा है न कि वे अपने लिए सिर्फ अपने लिए सारे संसाधन को कैसे प्रयोग कर सकते हैं जीवन को कैसे और अधिक विलासी बना करते हैं। और यही है पाश्चात्य सभ्यता, हिंसक सभ्यता और राक्षसी सभ्यता।

अहिंसक सभ्यता, देवताओं की सभ्यता और ला आफ सेक्रीफाइज्ड़ क्या है, आइए यह जानने के लिए सरिस्का के वनवासियों आदिवासियों की परम्पराओं से सीखें।

सुदूर जंगलों-पहाड़ों में छिपे इन वनवासियों आदिवासियों की दिनचर्या को जरा दिल से निहार कर तो देखिए। जन्म से मृत्यु तक की इनकी यात्रा का पग-पग प्रकृति प्रेम पर्यावरण संरक्षण से ओत-प्रोत है। ये आदिवासी प्रकृति-वनस्पति की अवहेलना कर पर्यावरण को असंतुलित कर अपने जीवन की कल्पना नहीं करते बल्कि प्रकृति को वे अपना आराध्य अपना इष्ट मानते हैं। प्रगतिवादियों के लिए अवश्य अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता लगे किन्तु इनके जीवन की कला और कानून इनकी परम्पराऐं इनकी मान्यताऐं ही है। इन परम्पराओं का, अनुपालन ये आदिवासी दिमाग से नहीं दिल से करते हैं।

इनके विपरीत काम करने के लिए इनको अपने पीर-पण्डा अपनी सरकार पुलिस का भय नहीं स्वयं की अन्तरात्मा का भय रहता है। और यहीं पर उपजती है पर्यावरण संरक्षण की सास्वत अवधारण।

वर्ष भर के इनके तीज-त्योंहार, पर्व-उत्सव सभी प्रकृति-वनस्पति के साथ सीधा साधा सम्बन्ध रखते हैं। संवत्सर पड़ेवा (प्रतिपदा) (विषुवत संक्रान्ति) विष्णु की अमावस्या वट्-मावस (जैष्ठ की अमावस्या) कजली (श्रावण की पूर्णमासी) जन्माष्टमी (भादो की अष्टमी) (गणेश चौथ) भादौ की शुक्ल पक्ष की चतुर्थी), बसंत पंचमी आंवला एकादशी (फाल्गुन शुक्ल पक्ष की एकादशी) आदि त्योंहार तो मात्र वनस्पति के प्रति मानव के अनुराग को ही बनाए रखने की दृष्टि से है। इसके अतिरिक्त दशहरा, दीपावली, गोवर्धन पूजा, सहित सभी पर्व-स्नान तो पर्यावरण के लिए ही तो प्रेरित करते हैं।

इसी प्रकार "पीपल" तो सारे सनातन धर्मियों का आस्था केन्द्र मानव के सर्वाधिक महत्व के इस वृक्ष को मान्यता किसी भी मन्दिर से कम कभी नहीं रही। इसको काटना, क्षति पहुंचाना, पत्ते तोड़ना तो क्या मिथ्याभाषी लोग इस वृक्ष के नीचे आज भी झूंठ बोलने से कतराते हैं। आज का कोई भी कानून किसी वृक्ष को कटने से बचाने के लिए इस अन्धविश्वास कहे जाने वाले सनातनी उपनियम के मुकाबले समर्थ हो सकता है क्या ?

क्षेत्र सरिस्का तो क्या सम्पूर्ण राजस्थान में तो एक और विलक्षण बात देखने को मिलती है। वेद पुराणों को बताकर आज के मूढ़ समाज

ने जिन बातों को त्याज्य समझा वे यहां मूल रूप से जिन्दा हैं जैसे "धराड़ी"। वर्ण व्यवस्था के बाद जब जातियाँ उप जातियों (गोत्र) में बंटी तो प्रत्येक गोत्र के साथ एक वृक्ष भी सम्बध किया गया। इस गोत्र के लिए उक्त पेड़ को काटना या अपनी जानकारी में कटने देना "पाप" समझा गया। यह एक स्वाभाविक परम्परा सी रही है कि एक क्षेत्र विशेष में गोत्र विशेष के लोग अधिक बाँस काटते हैं और अल्पसंख्यक बहुसंख्यक को मान्यताएं स्वंयमेव कर लेते हैं। कल्पना कीजिए जंगल के सारे वृक्ष कट जायेंगे। किन्तु उस वृक्ष विशेष का कितना घना जंगल होगा उस क्षेत्र में।

"काँकड़ बनी" भी ऐसी ही एक परम्परा है। दो जंगलों गांवों के बीच सीमा रेखा एक मोटी परिधि के रूप में होती है। इस चौडी परिधि क्षेत्र को ही "कांकड बनी" कहते हैं। काँकड बनी को जंगल के दोनों गाँवों के लोग काटने से इसलिए परहेज करते थे कि दूसरे गाँव के देवता उनके गांव के पशुओं जल स्रोतों पर कुपित हो जायेंगे। कांकड बनी की घास और पेड़ों की पत्तियाँ देवता के प्रसाद के लिए दोनों गाँवों के पशुओं को चराई जाती थी।

"ओरण्य" ग्राम देवता के स्थान या चबूतरे के आसपास के पेड़ पौधे वनस्पतियों का नाम था जिस किसी भी स्थिति में क्षति पहुंचाना पाप समझा जाता है। झाड़ियों और उस पर आरोही बेल आदि को औषधि के प्रतीक के रूप में संरक्षण प्राप्त है। इतना ही नहीं पेड पौधों में देवताओं का "वास" मानकर उनको काटने तो क्या? अपवित्र करना भी घोर पाप और उस देवता का अपमान माना जाता है।

सरिस्का क्षेत्र के एक गांव राडा के जगदीश गुजर बताते हैं कि बेर के पेड में मावली, पीपल में विष्णु, कचनार में लक्ष्मी, बील में शंकर तथा नीम में मां काली का निवास होता है। जगदीश कहते हैं, "राधे राधे रटत है, आक ढ़ाक और केर।" सनातन काल में विभिन्न प्रकार के पेड़ों नीचे विभिन्न प्रकार की शिक्षा का विशेष महत्व था जैसे पीपल के नीचे आध्यात्मिक शिक्षा, आंवला के नीचे उपचार चिकित्सा शिक्षा और गूलर के नीचे तन्त्र साधना। किन्तु यह परम्परा अब लुप्त हो चुकी है।

अतीत में भारत के तीर्थ सांस्कृतिक ऊर्जा के केन्द्र माने जाते थे किन्तु यहां तो अब बिना वातानुकूलित चेम्बर के साधकों की साधना ही पूरी नही होती संस्कृति और साधना की मर्यादाऐं और मौलिकताएं यदि कहीं शेष है तो वहां जहां आदिवासी आज भी अपने पूरे परिवेश में जिन्दा है। और वे ही आदिवासी वनवासी हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। यदि हमें वास्तव में अपने पर्यावरण के बारे में चिन्ता है तो आइए विकल्प तलाश करें इन निरक्षर विज्ञानियों, पर्यावरण विदो के दैनिक आहार-विहार से जिन्हें हम प्रगति वादी होने के नाते भूल चूके हैं।

आयातित ज्ञान के चलते हमारा बौद्धिक-पर्यावरण विनष्ठ हो चुका है। ऐसी स्थिति में पारिस्थितिकीपर्यावरण का चिन्तन ही अन्ध-विश्वास है एक ढ़ोंग है आडम्बर है। किन्तु सरिस्कावासी अब अपने पीछे छूट गए ज्ञान को मुडकर देखना सीख गए हैं। समझ गए हैं और पर्यावरण के लिए इस "यज्ञ" में वे इन परम्पराओं के मूल्यों को पुनः स्थापित करने का संकल्प लेंगे। तथा कथित ज्ञानियों-विज्ञानियों के समक्ष अपने इस सनातनी ज्ञान को सिखाने का भी काम करेंगे।

आज के ब्राम्हता, "यज्ञ" को कर्मकाण्ड के रूप में ही मानते हैं। किन्तु सास्वत यज्ञ का तो रूप ला आफ संक्रीफाइडट में ही है। यानी की समर्पण, समर्पण ही यज्ञ है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है कि सारे ब्रम्हाण्ड का परस्पर सम्बन्ध समर्पता ही यज्ञ है। और ऐसा ही पारम्परिक यज्ञ सरिस्का वासी करने जा रहे हैं। खनन के अनैतिक व्यापार के समक्ष अपने को समर्पित करने, बलिदान करने और होम करने जिससे एक ऐसे बादल का उदय होगा जिससे पैदा अन्न के वीर्यबल से देवत्व उत्पन्य होगा जो पर्यावरण के भक्षक राक्षस का वध करेगा। उस आयाति संस्कृति और सभ्यता पर सनातनी सभ्यता की विजय हासिल होगी और ऐसे पवित्र वातावरण में पर्यावरण असन्तुलन की गुन्जाइश ही न रहेगी।

—:o:—

हमारी खेती (टिकाऊ खेती)

क्या वाकई हम इतने अधिक हो गये कि कि पेट भरने के लिए अधिक उत्पादन की होड़ में प्रकृति (धरती) का मर्यादित उपयोग भूल बैठे हैं ? यह महज एक तथाकथित पाश्चात् संस्कृति का फैलाया हुआ भ्रम है। वैसे भी भारत जैसे खेतिहर देश जिसकी बुनियाद धरती से जुड़ी है, वहाँ यह बात असफल होती है कि बढ़ती जनसंख्या के उपभोग हेतु प्रकृति का बेहिसाब दोहन किया जाय। यह बात अपने में सार्थक है कि जो हाथ जमीन से जुड़े हों, वे कभी भूखे नहीं मर सकते हैं। खेती के मामले में, "हरित क्रान्ति" जो आयातित पद्धति है, ने तो धरती का इस प्रकार दोहन किया है कि पंजाब, हरियाणा जैसे हरियाली के लिए मशहूर राज्य भी गेहूँ और धान की जगह ए. के. 47 (राइफल) उगने लगी हैं। अतः आज हमारा किसान पूर्णतः आयतित खेतिहर हो गया है। भिन्न-भिन्न किस्म के मंहगे रसायनिक खाद, संकर बीज, कीटनाशक दवाएँ, कृत्रिम सिंचाई तथा आधुनिक उपकरणों ने न केवल मिट्टी के उपजाऊपन को ही खतरे में डाल दिया है, वल्कि करोड़ों लोगों को बेरोजगार बना दिया है क्या इस आधुनिक तरह की खेती के चलते हमारा भरण–पोषण होता रहेगा ?

शायद नहीं, इसका जवाब आज वे देश अच्छी तरह दे सकते हैं, जो "हरित क्रान्ति" तथा विकास के शिकार हो चुके हैं। जब संयुक्त राष्ट्र की समझ में आया कि हम नाश के कगार पर हैं तो बुटलैण्ड कमीशन बना। बेहिसाब रसायनिक खाद जमीन में डालने से जमीन बंजर बन रही है। विश्व स्वास्थ संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार 20 लाख लोग प्रतिवर्ष कीटनाशक दवाईयों की चपेट में आते हैं, जिसमें 40 हजार लोग अकाल मौत मर जाते हैं। बात यही तक सीमित नहीं है. फसलों में डाली गई कीटनाशक दवाई अपना कुप्रभाव प्रत्येक उपभोक्ता पर डालती है जिससे तरह–तरह की बिमारियाँ जन्म ले रही

हैं। इसके बाबजूद भी क्या हानिकारक कीट खतम हो रहे हैं। शायद नहीं। बल्कि एक नये तथा शक्तिशाली जाति के कीट की उत्पत्ति हो जाती है।

तथाकथित सुधरे, संकर बीज न केवल भिन्न-भिन्न प्रकार की बिमारियों तथा कीट को आमन्त्रित करते हैं। बल्कि वे उस जलवायु विशेष में उगने के अनुकूल भी नहीं होते हैं। अधिक पैदावार देने वाली किस्मों (संकर किस्म) ने सघन खेती वाले इलाकों में जमीन के अन्दर खनिज तत्वों (गन्धक, तांबा, जस्ता आदि जैसे) की कमी उत्पन्न कर वहाँ के लिए एक और खतरा पैदा कर दिया है।

सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बाँध, विशाल नहरें, बिजली घर आदि के बनाने में लाखों हेक्टेयर जमीन बर्बाद की जा रही है। इसका ताजा उदाहरण "नर्मदा परियोजना" हमारी आँखों के सामने है।

इस प्रकार खेती, विकास के नाम पर धन्धा नहीं, व्यापार बन कर रह गया है। करोड़ों-लाखों लोगों का धन्धा आधुनिक उपकरणों ने हथिया लिया है। बैलों की जगह टेक्टर, थ्रेसर, इंजनों ने ले ली है। जिससे हमारा पशुधन तथा उनसे मिलने वाली गोबर खाद आदि चौपट हो गयी है।

वैसे इस सबको देखकर अब हमारी आँखें खुलने लगी हैं कि हम तो नाश के कगार पर खड़े हैं लेकिन यह भी सोचना होगा कि इसका विकल्प क्या हो ?

"विकल्प" के लिए बहुत ज्यादा परेशान होने की जरूरत नही है। "विकल्प" तो हमारे सामने है बस थोड़ा पीछे भर देखने की जरूरत है, अपनी परम्परागत खेती पर। हमारी परम्परागत खेती में इस प्रकार का ध्यान रखा जाता था कि जितना हम धरती से लेते हैं उतना ही उसे दें। फलस्वरूप उपज तथा प्रकृति के बीच एक अटूट सन्तुलन बना रहता था। अत: जमीन से आवश्यकतानुसार उत्पादन तथा पारिस्थितिकी के बीच सन्तुलन को हम टिकाऊ, पारिस्थितिकी या परम्परागत खेती कहते हैं।

मिट्टी, गोबर तथा कुड़े करकट से बना खाद, धरती को केवल उपजाऊ ही नहीं बनाता बल्कि मिट्टी में नमी भी बनाता है तथा हानिकारक कीट (जैसे दीमक) को भी खेत में नहीं पनपने देता है। सरिस्का के ज्यादातर गाँवों में लोग कीटनाशक के रूप से घरेलू उपचार करते हैं। जिससे न तो किसी प्रकार की हानि होती है न ही बाजारू कीटनाशक रसायनिक घोल खरीदने की जरूरत होती है। यदि खेत से दीमक भगानी है तो गोबर (बकरी का मींगन) की खाद की मात्रा खेत में बढा दी जाती है तथा खेत की मेड पर आंकड़े के पौधे बो दिये जाते हैं। नीम, महुआ, केला आदि भी अच्छे कीटनाशक वृक्ष हैं।

खेत में नाईट्रोजन की मात्रा बढ़ानी होती है तो हरी खाद बो देते हैं। सन्नी व ढेंहचा इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं। फसलों को अदल-बदल कर बोना भी खेत को उपजाऊ बनाये रखता है। जकड़ा जड़ों वाली फसल के बाद मूसला जड़ों वाली फसल बोने से उर्वरता बनी रहेगी। द्विफलीय फसलें बोने से खेतों में लगातार उर्वरक तत्व बने रहेंगे।

अपनी परम्परागत खेती के चलते कभी भी सिचाई के लिये बड़े-बड़े बांधों की जरूरत महसूस नहीं की गयी। लोग वर्षा के पानी पर ही निर्भर रहते थे, किन्तु आज के हालात तो ये हैं कि अपने पानी के भण्डार भी खाली नजर आने लगे हैं। लेकिन कुछ जगह आज भी बरसाती पानी इकट्ठा करने की परम्परा मौजूद है या यूँ कहिए कि एक बार बीच में झटका लगने के बाद दौबारा उन्होंने पानी की परम्परागत पद्धति अपनाई है। उदाहरणत सरिस्का के गाँवों में पिछले दो-तीन वर्षों में लोगों ने बरसाती पानी प्रबन्ध हेतु 152 छोटे परम्परागत तालाब व बाँध बनाये हैं।

यदि आधुनिक खेती को छोड़ कर परम्परागत खेती को न अपनाया गया तो वह दिन दूर नहीं है जब हमारा देश भी पाश्चात्य देशों की भाँति पश्चाताप करेगा।

—:o:—

वन-औषधि

मानव अपनी प्रकृति और पर्यावरण के साथ नाजायज छेड़-छाड़ कर कुछ मुसीबतें पैदा कर लेता है। अपनी बीमारियों के रूप में। सनातन भाषा में इन बीमारियों को प्रकृति का प्रकोप अथवा पापों का फल कहते हैं। अपनी इन बीमारियों का निदान भी आयातित चिकित्सा से खोजते हैं। इस आयातित निदान से हमें बीमारियों से क्षणिक राहत भले ही मिल जाती हो किन्तु इसी चिकित्सा पद्धति का ही परिणाम तो है कि हम केंसर और एड्स जैसी ला इलाज बीमारी भी पाल लेते हैं।

छोटी-मोटी बीमारियाँ तो क्या दुनियाँ के असाध्य कहे जाने वाले रोगों का इलाज भी हम अपने आयुर्वेद के द्वारा सफलता पूर्वक करते चले आ रहे हैं। और हमारा सारा का सारा आयुर्विज्ञान वनों पर वनौषधियों पर ही आधारित है। आज भी यदा कदा मिल जाने वाले वैद्य फक्र के साथ कहते—"चिकित्सा विधा प्रयोगशालाओं का विषय नहीं यह तो जंगलों में साधना की विषय वस्तु है। पाश्चात्य सभ्यता की पोल खोलते सनातनी सभ्यता के लोग कहते हैं, जब आपके सांस्कृतिक पुरुष जंगलों में भेड़ चरा रहे थे तब हमारे यहाँ के लोग वनों में मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा कर रहे थे।

उन्हीं शल्य चिकित्सा विज्ञानियों के वंशज आज भी सरिस्का जैसे जंगलों में विद्यमान हैं। सारा ज्ञान भी वे समेटे बैठे हैं। सरिस्का में हरिपुरा गाँव के नानगराम गूजर कहते हैं कि चाहे जितना ही तेज रक्तस्राव क्यों न हो रोखड़ी (सदाहरी) घास कुचल कर लगा दीजिए रक्त श्राव तो तुरन्त ही बन्द हो जायेगा। बुखार के लिये सहदेवी तथा काली मिर्च का काढ़ा रामबाण बताते हैं। यदि किसी को हल्की बीमारी होती तो वे घरेलू उपचार करके ही ठीक हो जाते थे। माना कि किसी को खांसी

जुकाम हो गया है तो तुलसी के पत्तों से काढ़ा भर पीने से आराम हो जाता था। और फिर अपने खाने-पीने में थोड़ा फेर-बदल (परहेज) से ठीक हो जाते थे। गाँवों में कुछ लोग आज भी उन्ही जड़ी-बूटियों में विश्वास करते हैं।

अभी तक ग्रामवासियों पर जो आलसी, निकम्मे, अनपढ़ व अज्ञानी होने का आरोप लगता रहा है। यह तथाकथित शिक्षित लोगों का षड़यन्त्र है। जितनी जड़ी-बूटियाँ एक वनवासी गिना सकता है, किस वृक्ष या पौधे का क्या औषधिक उपयोग है? कहाँ मिलेगा? किस तरह औषधि बनानी है! वे अच्छी तरह जानते हैं। आज रेडियो व टेलीविजन पर बड़े-बड़े विज्ञापन आते हैं—परिवार नियोजन पर यदि एक खतरनाक साबित होता है तो दुसरी विधि निकाल रहे हैं हमारे डाक्टर वैज्ञानिक। लेकिन शायद भील जैसी जाति को कभी इस तरह के खतरनाक निरोधक गोलियाँ लेने की जरूरत नहीं होती। बस जभी वे परिवार नियोजन करना चाहते हैं तो वहाँ की महिलाएँ स्थानीय जड़ी-बूटियों का प्रयोग करती हैं।

सरिस्का वासियों का मानना है-"मोटो खाणों और मोटो पहनणों" मतलब अपनो स्थानीय उपलब्ध वस्तुओं का उपयोग करना, जिनमें किसी तरह की बाह्य बनावट न हो। शायद इस बनावट "लग्जरी" के परिणाम स्वरूप हो हम संकट में फंस गये हैं। आज गोरे बनने की होड़ में तरह-तरह के प्रसाधन चेहरे तथा शरीर पर प्रयोग करने लगे हैं। जिससे तरह-तरह की चर्म बीमारी हो जाती है। तेल-उबटन तो लोग भूल ही बैठे हैं जिनसे त्वचा तो सुरक्षित बनी ही रहती थी। साथ-साथ शरीर हृष्ट-पुष्ट भी रहता था जैसे सत्तानासी या काली खेर की छाल का काढ़ा पीने से सभी तरह के चर्म रोग चले जाते हैं। शरीर में बाल, सुस्ती, चर्म में शुष्कपन आ जाने से सरसों के तेल में लहसून पकाकर मालिश करने से लेषमात्र में ये शिकायतें शरीर में नहीं रहती हैं :

ऐलोपेथी के पास हृदय रोग और रक्त चाप के लिये तो कोई दवा ही नहीं थी यदि वृक्ष सर्वगन्धा व उसकी जड़ न होते। पेटेन्ट दवा सर्वांहना सर्वगन्धा की जड़ ही तो है। मलेरिया की अचूक दवा कुनेन

भी सिनकोना वृक्ष से ही तो बनती है सर्वाइना व कुनेन, का उत्पादन तो वृक्ष से अवश्य होता है किन्तु पाश्चात्य विधि से रासायनिक क्रिया के कारण इनके लाभ के अतिरिक्त कुछ कुप्रभाव अवश्य छोड़ जाती है किन्तु—

स्वस्थस्य स्वास्थ रक्षणम् ।
आतुस्त्य विकार प्रर्सनम् च ।।

आयुर्वेद की कोई भी औषधि विकार तो पैदा ही नहीं कर सकती जैसा कि इस श्लोक में दर्शाते हैं। रोगी को निरोग्य और निरोग को स्वास्थ्य लाभ देने वाली होती है वन–औषधियाँ।

वासानायाम, आशायाम जिवित्स्यच,
रत पिति, क्षयी कासी, विमर्थन ओषधिति ।

उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि वनौषधियों के उपयोग से तो क्या यदि उस औषधि का वृक्ष भी पास में मौजूद है तो जीवन की आशा बंधती है ।

वट व पीपल के नीचे रात में सोना इसलिए वर्जित नहीं कि प्रेत रहते हैं बल्कि रात्रि के समय वह अधिक कार्बनडाई–आक्साइड गैस छोडते हैं। तुलसी का पौधा आँगन में लगे होने मात्र से तमाम रोगों से मुक्ति मिली रहती है।

यह सारी पद्धतियाँ सरिस्का के आदिवासी आज के चिकित्सा विज्ञान से कहीं अधिक जानते हैं और यही कारण है कि वे बीमार कम पड़ते हैं या फिर स्वत: इलाज कर लेते हैं।

—:o:—

वन एवं वन्य जीव संरक्षण

जहरीला साँप हमें कैसे लाभ पहुँचाता है। गाँव के लोग यह तो नहीं जानते किन्तु नाग देवता के रूप में उसकी पूजा करते हैं, उसे दूध पिलाते हैं, लोग यह भी जानते हैं कि दूध पिलाने से साँप का जहर और तीक्ष्ण हो जाता है। श्रावण मास भर साँप चाहे आँगन में घूमता रहे, उसे कोई मार नहीं सकता। चीन के किसानों को चूहे बहुत परेशान करते करते थे, खेतों से फसल खाते नष्ट करते, घरों का अनाज तष्ट करते, वहाँ की सरकार ने हमारे देश की औद्योगिक क्रान्ति की तरह चूहा मार क्रान्ति शुरू की।

उनकी चूहा मार क्रान्ति कामयाब रही, चीन से चूहों का उन्मूलन पूरी तरह से हो गया था। परिणाम स्वरूप वहां फसलों, जानवरों के लिए ही नहीं मनुष्यों के लिए भी नई तरह की बिमारियों ने मुसीबत पैदा कर दी। इन बीमारियों के लिए हुऐ वैज्ञानिक शोध से ज्ञात हुआ कि ये बीमारियां तो उन कीटाणुओं से पैदा हुई है जिनको समाप्त करने में चूहों की आवश्यकता है। और फिर चीन में चहे आयात करके बसाए गए थे।

चीन के इस प्रयोग से जाहिर हो गया है कि प्रकृति ने किसी भी प्राणी को अनावश्यक रूप से नहीं पैदा किया है परन्तु एक स्वस्थ्य पर्यावरण के लिए सभी प्राणियों का जीवधारियों का सांप जैसे जहरीले कीडे और सिंह जैसे हिंसक जंगली पशुओं का भी अपने पर्यावरण के सन्तुलन में उतना ही महत्व है जितना कि एक मनुष्य का। जीवधारियों की किसी भी प्रजाति का क्रमिक रूप से विनास व विकास किया जाना अवश्य ही प्रकृति के लिए पर्यावरण के लिए एक खतरा पैदा करने जैसा काम होगा।

किसी ने तो यहां तक कहा है कि मानव के सांस्कृतिक, शास्त्रीय जीवन में नियन्त्रण पैदा करने के लिए पशुओं को आदर्श के रूप में माना

जाना चाहिए। उन्होने इसके लिए दृष्टान्त दिया है कि शेर को चाहे जब तक भूखा रखिए वह घास नहीं खाऐगा। गाय को चाहे जब तक भूखा रखिये किन्तु वह मांस नहीं खायेगी। किन्तु मनुष्य तो सरिस्का में छेरी चराते-चराते डोलोमाइट की खाने भी खोदने लगा है।

यदि मनुष्य को जिन्दा रहना है तो बाघ को जिन्दा रखना होगा। इस एक वाक्य के पीछे पूरा जंगल दर्शन दर्शित होता है। बाघ तब जिन्दा रहेगा जब नील गाय और हिरण जिन्दा रहेंगें। पीपल बहुत उपयोगी वृक्ष है किन्तु क्या पीपल के जंगल में हिरण जी सकता है ? उसके भोजन के लिए पानी के लिए, प्राणवायु के लिए औषधि उपचार के लिए, चैन बसेरा के लिए आदि तमाम दिन चर्या हेतु अमर बेल से लेकर वट्वृक्ष तक कटीले से लेकर खेजडी तक सारे पेड पौधे और झाड़ियाँ की आवश्यकता है और इन पेड़ पौधों-झाड़ियों के प्रजनन-परागण के लिए चिंटी से लेकर हाथी तक सारे प्राणियों की आवश्यकता पडेगी। किसी एक के भी अभाव में पर्यावरण संतुलित नहीं रहेगा।

आज न केवल हमारे देश में ही बल्कि दुनियां भर से पौधों और पशुओं का एक मंच, विश्द वैविध्य भरा भण्डार खतरे में पड गया है। यही नहीं पीढ़ियों से संरक्षित कई महत्वपूर्ण अनुवंशक (प्रजातियाँ) आज लुप्त हो गयी है। इस क्षय के पीछे यही कार्यकलाप है जिन्हें आर्थिक विकास के नाम से शुरु किया गया था। "हरित क्रान्ति" इसका एक जीता जागता उदाहरण है। संकर किस्म के प्रचलन में देशी किस्म की पशु प्रजातियाँ लुप्त हो गयीं। यह जाहिर होता है कि वन्य प्राणियों का संरक्षण हमारे लिए नई बात नहीं है। "संरक्षण तो हमारी परम्पराओं में ही नीहित था। किन्तु धीरे-धीरे हमारी परम्पराऐं खत्म होती गयी। फलस्वरूप वन्य प्राणियों का जीवन खतरे में पड गया।

खतरे जब चरम सीमा की तरफ बढ़ता महसूस किया गया तो राष्ट्रीय, अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए आन्दोलन होने लगे। परिणामस्वरुप राष्ट्रीय उद्यान एवं वन्य अभयारण की धारणा निरूपित हुई। सदियों से परम्परागत तरीके से "अरण्य" के रूप बचाये हुए वन एवं वन्य प्राणियों का नोटिफिकेशन किया जाने लगा।

अंग्रेजों ने पहली बार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य इस प्रकार के 'औरण्यों' को जंगलो के नाम पर रहे सहे वन भी काल के गाल में जाने लगे। तभी से जंगलों की व्यापक कटाई शुरू होने लगी। इस प्रकार पाश्चात् पद्धति के चलते वन एवं वन्य प्राणी "कोमिडिटी" बनकर रह गयी।

देश आजाद होने पर जनता की आवाज उठी, आन्दोलन चले फलस्वरूप अभ्यारण्य राष्ट्रीय उद्यान, बाघ परियोजना बनने का काम तेजी से हुआ। इन्ही प्रयास के कारण आज देश में 445 इस तरह के क्षेत्र संरक्षित है जिनमें 64 राष्ट्रीय उद्यान की श्रेणी में आते हैं। ये देश की कुल जमीन का लगभग 3 प्रतिशत पर प्रसारित हैं।

खैर मानलें कि वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए लोगों का विस्थापन जरूरी है। लेकिन यह समाधान है या समस्या ? लोग शेर के लिए जगह क्यों छोडें ? इन लोगों का तो जंगल के साथ घनिष्ठ रिश्ता रहा है। सरिस्का के बहुत से ग्रामीण वन में लगने वाली आग को रोकने, वुझाने के काम करते रहे हैं। सरिस्कावासी गुस्से में तिलमिला उठते हैं। "माणस ज्यादा कीमती छे या नाहर ?" वहीं दूसरी तरफ अपने को संरक्षक कहलवाने वाले उतावलेपन से कहते हैं—"इक्के-दुक्के लोग मर गये तो कौनसी आफत आ गई ?"

यहां एक और मजे की बात है एक तरफ सरकार वन्य जीव संरक्षण के नाम पर सदियों से बसे बसाये लोगों को जंगलों से खदेड रही है वहीं दूसरी तरफ अवाँछनीय कार्यकलाप को गैर कानूनी तौर पर बढ़ावा दे रही है। यह अकेले सरिस्का या जवाहर वन्य अभयारण की बात नहीं है। लगभग ज्यादातर अभयारण्यों में खनन जैसे विनाशकारी कलाप चल रहे हैं, वन कट रहें हैं, जंगली पशुओं का व्यापार चल रहा है।

यह लेखक सरिस्का, रणथम्भौर, गीर, हिंगोलगढ़, रामगढ़ आदि अभयारण्यों में घूमने, लोगों से बात करने पर एक ही निष्कर्ष पर पहुंचा है कि वन वन्य प्राणियों में आई कमी के जिम्मेदार वनों में बसे लोग नहीं बल्कि हमारी वर्तमान वन नीतियां है।

संरक्षण और संवंधन का मूल भी हमें यही बताता है कि मनुष्य की दीर्घकालीन भलाई के लिए पर्यावरण की रक्षा ही संरक्षण है। दोमक से

लेकर शेर तक सभी किसी को बिना चोट पहुंचाए जीने का गुर जानते हैं जिसमें लोग भी शामिल हैं। वनों में और वनों के आसपास रहने वाले लोग सदियों से वन्य पशुओं के साथ रहते आये हैं। न तो लोगों को शेर आदि से खतरा था, न शेरों को इन गांवों से। समाज के जिस भाग ने अपने शौक के लिए शेर को खूब मारा था, अब उसी ने शेर बचाने का अभियान छेड़ा है।

वैसे सरकार की वर्तमान वन जीव संरक्षण नीति आवश्यक है, लेकिन इस नीति में मानव व जंगली जीवों को अलग अलग देखा जाता है, इसीलिए शायद सफलता कम ही हांसिल हुई है। इसमें ज्यादा नियम कानून बनाने की जरूरत नहीं है। जंगल एवं वन्य प्राणियों को बचाने के लिए तो लोग खुद कानून बना लेंगे। बस जंगल उनको सौपने की जरूरत है।

वन एवं वन्य प्राणियों के रखरखाव में जब तक जनता की भागीदारी नहीं होगी। उद्यानों और अभयारण्यों के बीच रहने वाले लोग इन्हें अपना नहीं मानेंगे और बरहमी से जंगलों को देखते रहेंगे। जब तक जंगलों की मल्कियत जनता की थी, तथा हमारी प्राचीन परम्पराएं जीवन जीने की मूल पद्धति हममें विद्यमान रही थी। तब तक जंगल व वन्य प्राणियों को कोई क्षति नहीं पहुंचाई गयी थी और न ही अलग से राष्ट्रीय उद्यान या वन्य जीव अभयारण्यों के रख-रखाव की आवश्यकता हुई थी। हमारी प्राचीन परम्पराओं के द्वारा जंगल संरक्षण कैसे होता था। यह बात इन जंगलों में बसे लोगों से अच्छी तरह समझी जा सकती है और यह जरूरी हैं आज के वन अधिकारियों, शिक्षकों, विद्यार्थियों, किसानों और हम सबको समझने की।

—·:o:—

सहयोग राशि रुपये 15/–

प्रकाशक :— तरुण भारत संघ, भीकमपुरा–किशोरी (अलवर)

मुद्रक :—कुशल प्रिन्टर्स, गोधों का रास्ता, जयपुर-3 * फोन 76052